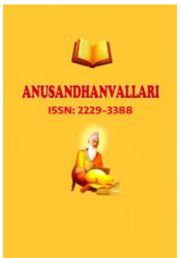

Anusandhanvallari
Vol 2023, No.1
November 2023
ISSN 2229-3388

एकात्म मानववाद से अंत्योदय तक: पंडित दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्र एवं समाज निर्माण संबंधी विचार

कुणाल
शोधार्थी
इतिहास विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय दरभंगा

संजय झा
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
इतिहास विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय दरभंगा

सारांश

भारत को 1947 में स्वतंत्रता मिलने के साथ ही उसके सामने राष्ट्र-निर्माण, सामाजिक पुनर्गठन, आर्थिक विकास और सांस्कृतिक पहचान से जुड़े कई गंभीर सवाल खड़े हो गए थे। इस संक्रमणकालीन दौर में अलग-अलग राजनीतिक-वैचारिक धाराओं ने भारतीय समाज और राज्य के भविष्य को लेकर अपने-अपने दृष्टिकोण सामने रखे। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन इसी स्वातंत्र्योत्तर वैचारिक परिवेश में पल्लवित हुआ। उन्होंने भारतीय संस्कृति और सामाजिक परंपराओं को केंद्र में रखकर राष्ट्र तथा समाज के पुनर्निर्माण की एक दृष्टि विकसित करने का प्रयत्न किया, जो आगे चलकर व्यवस्थित रूप से 'एकात्म मानववाद' के नाम से जानी गई (Upadhyaya, 1965)। एकात्म मानववाद में मनुष्य को महज़ आर्थिक या राजनीतिक इकाई मानने के बजाय उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक–इन चारों पक्षों के समन्वित विकास पर ज़ोर दिया गया। इस दृष्टिकोण में व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और

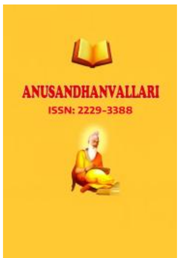

मानवता को एक-दूसरे से गुँथी हुई इकाइयों के रूप में देखा गया। इसी विचार-सरणी की सामाजिक-आर्थिक शाखा के रूप में 'अंत्योदय' की संकल्पना उभरती है, जिसमें समाज के सबसे पीछे खड़े व्यक्ति के कल्याण को विकास और शासन की सार्थकता कसौटी माना गया (Upadhyaya, 1965; Sharma, 2021)।

प्रस्तुत शोध-पत्र ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति अपनाते हुए दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्र और समाज-निर्माण संबंधी विचारों की पड़ताल करता है। इसमें उनके जीवन-वृत्त और वैचारिक निर्माण, स्वातंत्र्योत्तर भारत की तत्कालीन परिस्थितियों, भारतीय जनसंघ के संगठनात्मक विकास में उनकी भूमिका, एकात्म मानववाद की दार्शनिक बुनावट तथा अंत्योदय की अवधारणा को विश्लेषित किया गया है। साथ ही उनके राष्ट्रवाद, भारतीय संस्कृति-बोध, सामाजिक समरसता और आर्थिक चिंतन को उस दौर के ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर समझने की कोशिश की गई है। अध्ययन का लक्ष्य केवल विचारों का वर्णन करना नहीं, बल्कि स्वातंत्र्योत्तर भारत के वैचारिक इतिहास में उनके अवदान का समालोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करना है। अध्ययन यह निष्कर्ष सामने रखता है कि दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन आज़ादी के बाद भारत में उभरे वैकल्पिक राष्ट्र-निर्माण प्रयासों की एक सशक्त कड़ी था, जिसने भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि के आधार पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के आपसी संबंधों को नए सिरे से गढ़ने का प्रयास किया।

बीज-शब्द (Keywords): पंडित दीनदयाल उपाध्याय, एकात्म मानववाद, अंत्योदय, राष्ट्र-निर्माण, राष्ट्रवाद, भारतीय जनसंघ, भारतीय संस्कृति, सामाजिक समरसता, स्वातंत्र्योत्तर भारत।

1. प्रस्तावना एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1947 में मिली भारत की स्वतंत्रता केवल औपनिवेशिक सत्ता के अंत की सूचक नहीं थी, बल्कि यह एक ऐसे राष्ट्र के पुनर्गठन का आरंभ-बिंदु भी थी जिसने लंबे उपनिवेशकाल, आर्थिक पिछड़ेपन, सामाजिक विषमता और विभाजन की पीड़ा को झेला था। स्वतंत्रता के बाद भारतीय नेतृत्व के सामने एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य खड़ा करने के साथ-साथ ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था बनाने की चुनौती थी जो लोकतंत्र, विकास, सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता–चारों को साध सके। संविधान-निर्माण और लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना ने इस प्रक्रिया को औपचारिक ढाँचा दिया, परंतु राष्ट्र-निर्माण की वैचारिक दिशा को लेकर बहस लंबे समय तक चलती रही (Chandra, 2017)। आज़ादी के आरंभिक दशकों में भारत की राजनीतिक-आर्थिक दिशा पर समाजवाद, लोकतांत्रिक राज्यसत्ता, मिश्रित अर्थव्यवस्था और नियोजित विकास जैसी अवधारणाओं का गहरा असर था। पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर आगे की योजनाओं तक राज्य को आर्थिक बदलाव और सामाजिक रूपांतरण का मुख्य माध्यम माना गया। औद्योगीकरण, कृषि-विकास, सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार और नियोजन को आधुनिकीकरण से जोड़ा गया। इसके समानांतर भारतीय समाज के सांस्कृतिक-सभ्यतागत आधार, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, परंपरागत सामाजिक ढाँचे और स्थानीय संस्थाओं की भूमिका को लेकर भी गंभीर वैचारिक विमर्श जारी था (Frankel, 2005)।

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारतीय राजनीति में ऐसी वैचारिक धाराएँ पनपीं जिन्होंने राष्ट्र-निर्माण के सवाल को भारतीय सांस्कृतिक-सामाजिक संदर्भ में परखने का प्रयास किया। दीनदयाल उपाध्याय इसी

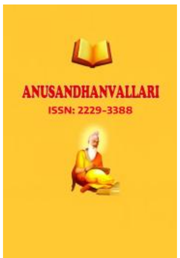

वैचारिक धारा के अग्रणी प्रतिनिधियों में गिने जाते हैं। उनकी मान्यता थी कि स्वतंत्रता का सच्चा अर्थ केवल सत्ता के हस्तांतरण में नहीं, बल्कि ऐसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में है जिसमें भारतीय समाज की सांस्कृतिक चेतना और जीवन-मूल्यों को समुचित स्थान मिले। उनके विचारों में राष्ट्र को राजनीतिक सीमाओं तक सीमित करने के बजाय ऐतिहासिक-सांस्कृतिक निरंतरता के धरातल पर समझने की कोशिश साफ झलकती है (Upadhyaya, 1965)।

उनका वैचारिक निर्माण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े संगठनात्मक अनुभव और स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के बदलते परिदृश्य के बीच हुआ। 1951 में भारतीय जनसंघ की स्थापना के पश्चात उन्होंने संगठन के प्रसार और वैचारिक आधार को मज़बूत बनाने में अहम भूमिका निभाई। उस दौर में भारतीय राजनीति पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का व्यापक वर्चस्व था, जबकि विरोधी राजनीतिक धाराएँ बिखरी हुई थीं। भारतीय जनसंघ ने राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक पहचान, सत्ता के केंद्रीकरण और आर्थिक नीति जैसे मसलों पर अपना अलग नज़रिया विकसित किया (Baxter, 1969)। 1950 और 1960 के दशक वैचारिक प्रयोगों और राजनीतिक पुनर्गठन के काल थे। एक ओर राज्य-नियोजित आर्थिक विकास और समाजवादी नीतियों का प्रभाव बढ़ रहा था, दूसरी ओर साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवादी चिंतन और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जैसी धाराएँ भारतीय राजनीतिक विमर्श को दिशा दे रही थीं। दीनदयाल उपाध्याय ने इसी बहस के बीच एक ऐसी वैचारिक रूपरेखा गढ़ने का प्रयत्न किया जिसे वे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल मानते थे। उनके अनुसार भारत के विकास-पथ को तय करते समय पश्चिमी राजनीतिक-आर्थिक साँचों को ज्यों-का-त्यों अपनाने के बजाय भारतीय समाज की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखना ज़रूरी था (Upadhyaya, 1965)।

इसी क्रम में 1965 में प्रस्तुत 'एकात्म मानववाद' उनके राजनीतिक चिंतन का सुव्यवस्थित रूप बनकर सामने आया, जिसमें उन्होंने व्यक्ति-समाज संबंध, राष्ट्र की अवधारणा, आर्थिक व्यवस्था और मानव-जीवन के विविध आयामों पर विचार रखा। उनके चिंतन की एक बड़ी विशेषता यह थी कि विकास को केवल उत्पादन, आय अथवा भौतिक समृद्धि से नहीं आँका जाना चाहिए, बल्कि मनुष्य के समग्र विकास और समाज के अंतिम व्यक्ति की ज़रूरतों को भी विकास-प्रक्रिया में उचित महत्व मिलना चाहिए (Upadhyaya, 1965)। अतः दीनदयाल उपाध्याय के विचारों को समझने के लिए उन्हें स्वातंत्र्योत्तर भारत की व्यापक ऐतिहासिक-वैचारिक पृष्ठभूमि में ही देखा जाना उचित होगा।

2. जीवन-वृत्त और वैचारिक निर्माण

दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितंबर 1916 को उत्तर प्रदेश के मथुरा जनपद के नगला चंद्रभान गाँव में हुआ था–ऐसे समय में जब भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था और भारतीय समाज राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रक्रिया से भी गुज़र रहा था। बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में भारतीय राष्ट्रवाद का विस्तार हो रहा था और राष्ट्रीय पहचान, स्वशासन, सामाजिक सुधार जैसे प्रश्न सार्वजनिक जीवन के केंद्र में थे। इस व्यापक परिवेश ने उस पीढ़ी के अनेक युवाओं की तरह दीनदयाल उपाध्याय के दृष्टिकोण को भी गहराई से प्रभावित किया। बचपन में ही माता-पिता को खो देने के बावजूद उन्होंने पढ़ाई जारी रखी और विद्यार्जन में असाधारण प्रतिभा दिखाई। विभिन्न स्थानों पर शिक्षा प्राप्त करते हुए उनकी रुचि साहित्य, भारतीय संस्कृति, इतिहास और सामाजिक प्रश्नों की ओर विकसित हुई, जिसने आगे चलकर उनके वैचारिक निर्माण को दिशा दी (Sharma, 2021)।

उनके सार्वजनिक जीवन का महत्वपूर्ण मोड़ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़ाव था। संघ के प्रचारक के रूप में काम करते हुए उन्हें व्यापक सामाजिक संपर्क, संगठन-निर्माण और कार्यकर्ता-आधारित सार्वजनिक कार्य का गहरा अनुभव मिला। इसी अनुभव ने उनके चिंतन में चरित्र-निर्माण, सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक चेतना को केंद्रीय स्थान दिया। उनके लिए राष्ट्र-निर्माण केवल राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना का विषय नहीं, बल्कि समाज के भीतर अनुशासन, संगठन-शक्ति और सामूहिक उत्तरदायित्व विकसित करने से भी जुड़ा था (Baxter, 1969)।

1951 में भारतीय जनसंघ की स्थापना के बाद वे उसके संगठनात्मक कार्य से सक्रिय रूप से जुड़े और लंबे अरसे तक महासचिव रहे। यह भूमिका इसलिए भी अहम थी क्योंकि उस दौर में कांग्रेस का राजनीतिक वर्चस्व अत्यंत व्यापक था जबकि विरोधी दल सीमित संगठनात्मक आधार के साथ काम कर रहे थे। उन्होंने कार्यकर्ता-प्रशिक्षण, संगठन-विस्तार और वैचारिक स्पष्टता को प्राथमिकता दी (Baxter, 1969)। जनसंघ के मंच से उनके राजनीतिक विचारों को संस्थागत अभिव्यक्ति मिली। उनके चिंतन में राष्ट्रवाद, भारतीय संस्कृति, लोकतांत्रिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन और आर्थिक विकास–ये सभी विषय एक-दूसरे से गुँथे दिखते हैं। वे भारतीय राष्ट्रवाद को केवल राजनीतिक सत्ता या भौगोलिक सीमाओं से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक-ऐतिहासिक निरंतरता से परिभाषित करने के पक्षधर थे (Upadhyaya, 1965)।

1960 के दशक में उनका वैचारिक विकास एक नए मुकाम पर पहुँचा। एक ओर भारत में नियोजित औद्योगीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र आधारित अर्थव्यवस्था को बल मिल रहा था, दूसरी ओर विश्व-राजनीति में पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच वैचारिक टकराव तीखा था। दीनदयाल उपाध्याय ने इन दोनों प्रमुख प्रतिमानों की सीमाओं पर विचार करते हुए भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एक

वैकल्पिक दृष्टि गढ़ने का प्रयास किया। उनके अनुसार मनुष्य को केवल उत्पादन और उपभोग की इकाई मान लेना उसके व्यक्तित्व की व्यापकता को संकुचित कर देना है (Upadhyaya, 1965)।

इसी वैचारिक प्रक्रिया का सुसंगत रूप 1965 में दिए गए व्याख्यानों में 'एकात्म मानववाद' के नाम से सामने आया, जिसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानव-जीवन के विविध आयामों को एक समग्र ढाँचे में समझाने का प्रयत्न किया गया। साथ ही 'अंत्योदय' की अवधारणा–समाज के अंतिम व्यक्ति के कल्याण को विकास की कसौटी मानने वाली दृष्टि–भी इसी चिंतन-यात्रा का सहगामी परिणाम थी। 1967 में वे भारतीय जनसंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष बने, किंतु उसी वर्ष फरवरी में मुगलसराय के निकट रहस्यमय परिस्थितियों में उनका देहांत हो गया। उनके निधन ने संगठन के लिए एक संक्रमणकालीन चुनौती पैदा की, फिर भी उनके गढ़े गए संगठनात्मक ढाँचे और वैचारिक प्रतिमान भारतीय राजनीतिक विमर्श में बने रहे (Baxter, 1969)।

3. भारतीय जनसंघ और राष्ट्र-निर्माण में योगदान

स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना के साथ बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था का विकास शुरू हुआ। आरंभिक दशकों में कांग्रेस का राष्ट्रीय राजनीति पर व्यापक प्रभुत्व होने के बावजूद विभिन्न वैचारिक धाराओं ने वैकल्पिक राजनीतिक मंच खड़े किए। इसी क्रम में 1951 में भारतीय जनसंघ अस्तित्व में आया, जिसने राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक पहचान, आर्थिक नीति और राष्ट्रीय एकीकरण जैसे मुद्दों को राजनीतिक विमर्श के केंद्र में ला खड़ा किया (Baxter, 1969)।

दीनदयाल उपाध्याय जनसंघ के संगठनात्मक विकास के शिल्पकारों में गिने जाते हैं। महासचिव के रूप में वे लंबे समय तक पार्टी-विस्तार, कार्यकर्ता-प्रशिक्षण और संगठन-नेटवर्क बनाने में जुटे रहे। उनके लिए राजनीतिक दल महज़ चुनाव लड़ने की मशीनरी नहीं था, बल्कि विचार और संगठन के माध्यम से समाज में दीर्घकालिक बदलाव लाने का औज़ार भी था (Sharma, 2021)। जनसंघ के आरंभिक विकास का ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि उसने भारतीय सांस्कृतिक परंपरा और राष्ट्रीय एकता को केंद्र में रखने वाली एक वैचारिक धारा को संगठित राजनीतिक मंच मुहैया कराया। दीनदयाल उपाध्याय की मान्यता थी कि किसी राजनीतिक संगठन की स्थिरता केवल चुनावी सफलता से नहीं, बल्कि कार्यकर्ताओं की वैचारिक प्रतिबद्धता और सामाजिक जुड़ाव से भी तय होती है (Baxter, 1969)।

उनकी संगठन-शैली की एक विशेषता कार्यकर्ता-केंद्रित राजनीति थी। वे स्थानीय स्तर पर कार्यकर्ता-निर्माण को उतना ही महत्व देते थे जितना संगठन-विस्तार को, क्योंकि उनकी नज़र में कार्यकर्ता ही समाज और संगठन के बीच सेतु का काम करता है। इस मॉडल में व्यक्तिगत नेतृत्व से अधिक सामूहिक अनुशासन और वैचारिक प्रशिक्षण को तरजीह मिली। राष्ट्र-निर्माण को लेकर उनका नज़रिया केवल सत्ता-प्राप्ति से कहीं आगे था। उनके अनुसार राष्ट्र का निर्माण सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक निरंतरता और नागरिक उत्तरदायित्व के विकास से भी जुड़ा है। इसी वजह से उनके चिंतन में राष्ट्रवाद का रूप राज्य-केंद्रित न होकर समाज और संस्कृति-केंद्रित दिखाई देता है (Upadhyaya, 1965)। विभाजन की स्मृति, क्षेत्रीय विविधता, भाषाई पुनर्गठन जैसी चुनौतियों के बीच राष्ट्रीय एकता को मज़बूत बनाना उस दौर की बड़ी प्राथमिकता थी। दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्रीय एकता को सांस्कृतिक एकात्मता और सामाजिक संगठन से जोड़कर देखा–हालाँकि इस दृष्टिकोण की व्याख्या और आलोचना अलग-अलग राजनीतिक-

अकादमिक हलकों में भिन्न-भिन्न रही है, इसलिए इसे व्यापक राष्ट्रवाद-विमर्श के संदर्भ में ही परखा जाना उचित है। उनकी दृष्टि में राजनीति का लक्ष्य केवल सत्ता-प्राप्ति नहीं, बल्कि समाज और राष्ट्र के व्यापक हित की पूर्ति होना चाहिए–यह मान्यता उनके संगठनात्मक आचरण में भी झलकती थी, जहाँ व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से अधिक संगठनात्मक अनुशासन और वैचारिक निरंतरता को तरजीह मिली (Sharma, 2021)। साथ ही उन्होंने अत्यधिक केंद्रीकृत अर्थव्यवस्था के बजाय विकेंद्रीकरण और स्थानीय आर्थिक गतिविधियों को महत्व देने की वकालत की, जो आगे चलकर एकात्म मानववाद के व्यापक ढाँचे में और स्पष्ट रूप से सामने आई (Upadhyaya, 1965)।

संक्षेप में, जनसंघ में उनका योगदान तीन स्तरों पर देखा जा सकता है–संगठन का विस्तार और कार्यकर्ता-आधारित ढाँचे को मज़बूती, भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि को राजनीतिक चिंतन से जोड़ना, और राष्ट्र-निर्माण के प्रश्न को व्यक्ति, समाज, संस्कृति व अर्थव्यवस्था के व्यापक अंतर्संबंधों में समझना। यही प्रक्रिया आगे चलकर एकात्म मानववाद की वैचारिक बुनियाद बनी।

4. एकात्म मानववाद: संकल्पना और दार्शनिक आधार

दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन का मूल आधार 'एकात्म मानववाद' है, जो स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकसित होते वैचारिक विमर्श की उपज है–उस दौर में भारत के लिए उपयुक्त सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक मॉडल की तलाश जारी थी। एक ओर भारत नियोजित विकास और समाजवादी झुकाव अपना चुका था, दूसरी ओर वैश्विक स्तर पर पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच वैचारिक होड़ चल रही थी। उपाध्याय ने इन दोनों के बीच भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभवों पर आधारित एक तीसरा विकल्प प्रस्तुत

करने की कोशिश की (Upadhyaya, 1965)। 1965 में दिए गए चार व्याख्यानों में उन्होंने आधुनिक राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं की समीक्षा करते हुए मनुष्य को समग्रता में देखने पर बल दिया। उनके अनुसार वह विकास-दृष्टि अधूरी है जो मनुष्य को केवल आर्थिक आवश्यकताओं, उत्पादन और उपभोग के चश्मे से देखती है; मनुष्य के भौतिक पक्ष के साथ उसके मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक आयाम भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं (Upadhyaya, 1965)। उपाध्याय के चिंतन में मनुष्य की समग्रता केंद्रीय स्थान रखती है। उन्होंने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा–इन चार आयामों के बीच संतुलन और सामंजस्य को अनिवार्य बताया। केवल भौतिक ज़रूरतों की पूर्ति को अंतिम लक्ष्य मान लेना मानव-जीवन की व्यापकता को सीमित कर देता है; इस दृष्टि में आर्थिक विकास को मानवीय आवश्यकताओं और नैतिक मूल्यों से जोड़ने का प्रयास दिखता है (Upadhyaya, 1965)।

इस विचारधारा में व्यक्ति को समाज से पृथक स्वतंत्र इकाई मानने के बजाय व्यापक सामाजिक संरचना के अंग के रूप में देखा गया है। व्यक्ति का विकास परिवार, समुदाय और समाज के साथ उसके संबंधों से गुँथा हुआ है; इसलिए व्यक्ति और समाज को परस्पर-विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर-पूरक इकाइयों के रूप में देखने की प्रवृत्ति उभरती है। समाज कोई यांत्रिक समूह नहीं बल्कि अपनी सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिक निरंतरता वाली इकाई है–इसी वजह से राष्ट्र को केवल राज्य या राजनीतिक सत्ता तक सीमित कर देना उनके लिए अपर्याप्त था (Upadhyaya, 1965)। इस चिंतन का एक केंद्रीय शब्द 'एकात्मता' है, जिसका आशय व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानवता के बीच के अंतर्संबंध से है। उपाध्याय की सोच थी कि सामाजिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति का विकास समाज के विकास से

और राष्ट्र की प्रगति मानव-कल्याण से अलग न हो–यानी प्रतिस्पर्धा और संघर्ष के बजाय सहयोग तथा संतुलन को प्राथमिकता।

उन्होंने पश्चिमी राजनीतिक विचारधाराओं की भी आलोचनात्मक समीक्षा की। उनके अनुसार पूँजीवाद मनुष्य के आर्थिक पक्ष और निजी हित को अतिरिक्त महत्व दे सकता है, जबकि समाजवाद/साम्यवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके विशिष्ट व्यक्तित्व को सामूहिक व्यवस्था के अधीन कर सकता है। उनकी दृष्टि में दोनों प्रतिमान मानव-व्यक्तित्व की समग्रता को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर पाते, और एकात्म मानववाद को उन्होंने इसी अधूरेपन के समाधान के रूप में भारतीय संदर्भ में प्रस्तुत किया (Upadhyaya, 1965)। यहाँ यह रेखांकित करना ज़रूरी है कि एकात्म मानववाद निर्वात में जन्मा विचार नहीं था। महात्मा गांधी के ग्राम-स्वराज, नैतिक अर्थव्यवस्था और मानवीय विकास संबंधी चिंतन पहले से मौजूद थे, और भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की विभिन्न धाराओं ने भी राष्ट्र को सांस्कृतिक आधार पर परिभाषित करने का प्रयास पहले किया था। दीनदयाल उपाध्याय का योगदान इन व्यापक बौद्धिक प्रवृत्तियों को स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक संदर्भ में एक सुसंगत वैचारिक ढाँचे में पिरोने में देखा जा सकता है।

एकात्म मानववाद में 'धर्म' की संकल्पना को भी संकीर्ण धार्मिक पहचान के बजाय सामाजिक-नैतिक व्यवस्था को थामे रखने वाले व्यापक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया गया। उपाध्याय की दृष्टि में समाज और राज्य के संचालन के लिए ऐसे मूल्यों की दरकार है जो अधिकारों के साथ कर्तव्य और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को भी बल दें (Upadhyaya, 1965)। राज्य को लेकर भी उनका नज़रिया उल्लेखनीय है–वे राज्य को समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था मानते थे, परंतु सामाजिक शक्तियों के संपूर्ण केंद्रीकरण के पक्षधर नहीं थे। परिवार, समुदाय, स्थानीय संस्थाएँ और सामाजिक संगठन भी

Anusandhanvallari
Vol 2023, No.1
November 2023
ISSN 2229-3388

उतनी ही अहम भूमिका निभाते हैं–यह विचार उस दौर के अतिरिक्त केंद्रीकरण और राज्य-प्रधान विकास मॉडल की परोक्ष आलोचना के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

आर्थिक स्तर पर भी एकात्म मानववाद यही समग्र मानव-दृष्टि प्रतिबिंबित करता है: अर्थव्यवस्था का लक्ष्य अधिकतम उत्पादन या उपभोग नहीं, बल्कि मानवीय आवश्यकताओं और सामाजिक कल्याण की पूर्ति होना चाहिए, जिसमें व्यक्ति की गरिमा और समाज के कमज़ोर वर्गों की ज़रूरतों का ध्यान रखा जाए (Upadhyaya, 1965)। इस प्रकार एकात्म मानववाद का मूल आग्रह मानव-जीवन की समग्रता, व्यक्ति-समाज की पारस्परिकता और राष्ट्र-निर्माण को सांस्कृतिक-नैतिक आधार से जोड़ने पर टिका है–यही समग्र दृष्टि आगे 'अंत्योदय' की अवधारणा से जुड़ जाती है।

5. अंत्योदय: समाज के अंतिम व्यक्ति के उत्थान की संकल्पना

दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्र-चिंतन में 'अंत्योदय' की अवधारणा को विशेष स्थान प्राप्त है। इसका सीधा-सा अर्थ है–समाज के सबसे अंतिम व्यक्ति का उदय अथवा उत्थान। यह अवधारणा उन व्यक्तियों और समुदायों के कल्याण की चिंता करती है जो सामाजिक-आर्थिक विकास की मुख्यधारा से छूट जाते हैं। उनकी दृष्टि में राष्ट्र की प्रगति को केवल आर्थिक उत्पादन या राष्ट्रीय आय की वृद्धि से नहीं, बल्कि समाज के सबसे कमज़ोर व्यक्ति के जीवन में आए बदलाव से आँका जाना चाहिए (Upadhyaya, 1965)। आज़ादी के बाद गरीबी, बेरोज़गारी, ग्रामीण पिछड़ापन, अशिक्षा और सामाजिक असमानता जैसी समस्याएँ राष्ट्र-निर्माण की सबसे बड़ी चुनौतियों में शुमार थीं। संविधान ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय को गणराज्य के मूल लक्ष्यों में शामिल किया, और राज्य ने नियोजित विकास व

कल्याणकारी नीतियों के ज़रिए इन समस्याओं से जूझने की कोशिश की। इसी संदर्भ में यह सवाल अहम बना कि विकास का लाभ समाज के अलग-अलग तबकों तक कैसे पहुँचे–दीनदयाल उपाध्याय का अंत्योदय-चिंतन इसी बड़े प्रश्न की उपज है (Chandra, 2017)। अंत्योदय को एकात्म मानववाद से जोड़कर देखना ज़रूरी है। चूँकि मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के समन्वित रूप में समझा गया है, इसलिए अंतिम व्यक्ति का उत्थान केवल आय-वृद्धि तक सीमित नहीं रह सकता; उसके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, सम्मान, सामाजिक सहभागिता, रोज़गार और बुनियादी ज़रूरतों की उपलब्धता भी उतनी ही आवश्यक है (Upadhyaya, 1965)।

दीनदयाल उपाध्याय के विचार में समाज को केवल आर्थिक वर्गों में बाँटकर समझ लेना पर्याप्त नहीं था; व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, सांस्कृतिक पहचान, पारिवारिक संबंध और सामुदायिक जीवन भी उसके विकास को प्रभावित करते हैं। इसलिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहिए जो आर्थिक अवसरों के साथ-साथ सामाजिक सहभागिता और गरिमा को भी महत्व दे–अंत्योदय इसी व्यापक सामाजिक दृष्टि की ओर इशारा करता है।

ऐतिहासिक तौर पर अंत्योदय को भारतीय चिंतन-परंपरा से काटकर नहीं देखा जा सकता। गांधी के सामाजिक-राजनीतिक विचार में भी समाज के सबसे कमज़ोर व्यक्ति के हित को नीति की कसौटी मानने का आग्रह मिलता है। गांधी के 'सर्वोदय' का लक्ष्य सबका कल्याण था, जबकि दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन में विकास का लाभ विशेष रूप से अंतिम व्यक्ति तक पहुँचाने पर बल है। दोनों की वैचारिक पृष्ठभूमि और राजनीतिक संदर्भ भिन्न होने के बावजूद, अंतिम व्यक्ति के कल्याण को केंद्र में रखने की समानता दोनों में साफ दिखती है (Gandhi, 1963; Upadhyaya, 1965)। अंत्योदय के संदर्भ में

सामाजिक न्याय का प्रश्न भी अहम है। सामाजिक न्याय केवल संसाधनों के बराबर बँटवारे तक सीमित नहीं, बल्कि अवसरों तक पहुँच और सामाजिक सम्मान से भी जुड़ा है। यदि विकास-प्रक्रिया समाज के कुछ तबकों को लगातार पीछे छोड़ती जाए तो विकास की व्यापकता पर ही सवाल खड़ा होता है–समाज के कमज़ोर वर्गों को विकास-प्रक्रिया से जोड़ने का उपाध्याय का आग्रह इसी चिंता से उपजा है।

आर्थिक स्तर पर उपाध्याय अत्यधिक केंद्रीकृत व्यवस्था के आलोचक थे। वे स्थानीय ज़रूरतों, छोटे उत्पादकों, ग्रामीण अर्थव्यवस्था और विकेंद्रीकरण को महत्व देने के पक्षधर थे, क्योंकि उनकी नज़र में उत्पादन-वितरण की व्यवस्था का अंतिम लक्ष्य मानव-जीवन की ज़रूरतों की पूर्ति और सामाजिक संतुलन होना चाहिए, न कि केवल अधिकतम उत्पादन-उपभोग (Upadhyaya, 1965)। अंत्योदय में व्यक्ति की गरिमा को भी अहम स्थान दिया जा सकता है–किसी व्यक्ति को निष्क्रिय लाभार्थी मानने के बजाय शिक्षा, कौशल, रोज़गार और सामाजिक अवसरों के ज़रिए उसे आत्मनिर्भर और सक्रिय सहभागी बनाना ज़्यादा महत्वपूर्ण है। इस तरह अंत्योदय का लक्ष्य महज़ तात्कालिक राहत नहीं, व्यक्ति की क्षमता और सामाजिक सहभागिता को बढ़ाना भी है।

फिर भी, अंत्योदय की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन ज़रूरी है। इसके समर्थक इसे मानव-केंद्रित और समावेशी विकास-दृष्टि मानते हैं, जबकि आलोचनात्मक नज़रिए से यह सवाल उठता है कि 'अंतिम व्यक्ति' की पहचान कैसे हो और संसाधनों के बँटवारे तथा असमानता दूर करने के लिए कौन-सी संस्थागत व्यवस्था कारगर होगी। किसी वैचारिक आदर्श को व्यावहारिक नीति में ढालने की प्रक्रिया वैसे भी जटिल होती है, इसलिए अंत्योदय का अध्ययन केवल आदर्शों के बखान तक सीमित न रहकर उसके व्यावहारिक-संस्थागत पक्षों का भी मूल्यांकन माँगता है।

संक्षेप में, अंत्योदय दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्र-चिंतन में सामाजिक कल्याण की एक केंद्रीय अवधारणा है, जो विकास के केंद्र में समाज के कमज़ोर और अंतिम व्यक्ति को रखने का आग्रह करती है। जहाँ एकात्म मानववाद मनुष्य के समग्र विकास का दार्शनिक आधार गढ़ता है, वहीं अंत्योदय उस दृष्टि को सामाजिक-आर्थिक स्तर पर अंतिम व्यक्ति तक पहुँचाने वाले व्यावहारिक-नैतिक आग्रह के रूप में सामने आता है।

6. राष्ट्रवाद, भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक समरसता

दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन में राष्ट्रवाद और भारतीय संस्कृति का केंद्रीय स्थान है। उनकी दृष्टि में राष्ट्र को केवल भौगोलिक सीमा, राजनीतिक राज्य या प्रशासनिक व्यवस्था से नहीं समझा जा सकता; राष्ट्र एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक इकाई भी है, जिसकी पहचान दीर्घकालिक सामाजिक अनुभवों, परंपराओं, मूल्यों और सामूहिक चेतना से बनती है (Upadhyaya, 1965)। भारत जैसे अत्यंत विविधतापूर्ण समाज में राष्ट्रीय एकता का आधार क्या हो–यह स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्र-निर्माण का एक बड़ा सवाल था। संविधान ने इस विविधता के बीच लोकतांत्रिक नागरिकता, समानता और विधि के शासन का संस्थागत ढाँचा दिया, वहीं भारतीय राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक आधार को लेकर अलग-अलग विचारधाराओं में बहस जारी रही (Chandra, 2017)।

दीनदयाल उपाध्याय भारतीय राष्ट्र को उसकी सभ्यतागत-सांस्कृतिक निरंतरता के आईने में देखने के हिमायती थे। उनके अनुसार भारत की राष्ट्रीय पहचान आधुनिक राजनीतिक राज्य के गठन से बहुत पहले से चली आ रही एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया की उपज थी। इस दृष्टि में राष्ट्र की एकता

को संवैधानिक-प्रशासनिक व्यवस्था का परिणाम मात्र न मानकर समाज में मौजूद साझा सांस्कृतिक चेतना से जोड़ने की कोशिश दिखती है (Upadhyaya, 1965)। इस संदर्भ में उन्होंने 'चिति' जैसी संकल्पना का सहारा लिया–यानी किसी राष्ट्र के जीवन में एक मूल सांस्कृतिक चेतना होती है जो उसके सामूहिक जीवन को दिशा देती है। यह विचार राष्ट्र को राज्य और नागरिकों के महज़ राजनीतिक रिश्ते से आगे एक व्यापक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखने वाली भारतीय राष्ट्रवाद-धारा से जुड़ता है।

हालाँकि राष्ट्रवाद की इस सांस्कृतिक व्याख्या का समालोचनात्मक परीक्षण भी उतना ही आवश्यक है। भारत जैसे बहुधार्मिक-बहुभाषी समाज में राष्ट्रीय पहचान के सांस्कृतिक आधार को परिभाषित करना एक जटिल प्रश्न है, जबकि संविधान नागरिकता को समान अधिकारों और संवैधानिक मूल्यों पर टिकाता है। इसलिए दीनदयाल उपाध्याय की सांस्कृतिक राष्ट्रवाद-दृष्टि का अध्ययन करते समय सांस्कृतिक एकता और संवैधानिक बहुलवाद–दोनों के बीच के रिश्ते और संभावित तनाव को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। यही संतुलित दृष्टिकोण उनके विचारों के ऐतिहासिक मूल्यांकन को अधिक न्यायसंगत बनाता है। उनके चिंतन में सामाजिक समरसता का प्रश्न भी राष्ट्र-निर्माण से गहरे जुड़ा था। उनकी मान्यता थी कि सामाजिक विभाजन और असमानता राष्ट्रीय एकता को कमज़ोर कर सकते हैं, इसलिए समाज के विभिन्न वर्गों-समुदायों के बीच सहयोग, सहभागिता और पारस्परिक उत्तरदायित्व अनिवार्य है (Sharma, 2021)।

जातिगत विभाजन भारतीय समाज का ऐतिहासिक रूप से एक गंभीर मसला रहा है। स्वतंत्रता के बाद संविधान ने अस्पृश्यता समाप्त कर समानता व सामाजिक न्याय के अनेक प्रावधान किए। दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन में समाज को परस्पर-संघर्षरत वर्गों के समूह के बजाय उसके विविध अंगों के बीच

पूरकता और एकात्मता के रूप में देखने पर ज़ोर मिलता है–यानी सामाजिक संघर्ष की बजाय सामाजिक समन्वय को प्राथमिकता (Upadhyaya, 1965)।

सामाजिक समरसता की यह संकल्पना एकात्म मानववाद की व्यापक मान्यता से ही निकलती है–यदि व्यक्ति को समाज से और समाज को राष्ट्र से अलग नहीं किया जा सकता, तो सामाजिक जीवन में सहयोग और उत्तरदायित्व की भावना अनिवार्य हो जाती है। इसी दृष्टिकोण में अधिकारों के साथ कर्तव्यों पर भी बल मिलता है, और व्यक्ति की स्वतंत्रता को सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ना उनके चिंतन का एक अहम पहलू बनता है। भारतीय संस्कृति के संबंध में भी उपाध्याय का नज़रिया इसी एकात्मता की भावना से जुड़ा था। वे भारतीय संस्कृति को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आपस में बाँधने वाली व्यापक दृष्टि मानते थे, जिसमें जीवन को केवल भौतिक उपलब्धियों तक सीमित न रखकर नैतिक-आध्यात्मिक-सामाजिक आयामों के साथ समझने की प्रवृत्ति रही है (Upadhyaya, 1965)। संस्कृति को स्थिर तत्व मानने के बजाय उसकी ऐतिहासिक निरंतरता और सामाजिक उपयोगिता पर बल देते हुए वे ऐसी आधुनिकता के समर्थक थे जो भारतीय समाज के ऐतिहासिक अनुभवों से पूरी तरह कटी हुई न हो–यह दृष्टिकोण स्वातंत्र्योत्तर भारत में चली 'परंपरा बनाम आधुनिकता' बहस का एक हिस्सा माना जा सकता है।

राष्ट्रवाद के संदर्भ में वे राज्य और राष्ट्र के फ़र्क पर भी बल देते थे–राज्य एक राजनीतिक संस्था है, जबकि राष्ट्र का निर्माण व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से होता है। इसलिए राज्य की संस्थाएँ राष्ट्र-जीवन के संचालन का माध्यम भर हैं, राष्ट्र की पहचान केवल राज्यसत्ता पर निर्भर नहीं होती–यह विचार राज्य की भूमिका को सीमित व जवाबदेह रखने की उनकी प्रवृत्ति से मेल खाता है (Upadhyaya, 1965)।

अंततः, इतिहासकार के लिए यह आवश्यक है कि दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्रवाद का मूल्यांकन समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों तथा भारतीय राष्ट्रवाद की अन्य धाराओं–उदारवादी, गांधीवादी, समाजवादी और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद–के साथ तुलनात्मक ढंग से किया जाए। उनका चिंतन इन धाराओं के बीच अपनी विशिष्ट वैचारिक पहचान गढ़ने का प्रयास था, इसलिए इसे भारतीय राष्ट्रवाद के व्यापक और बहुविध इतिहास के एक विशिष्ट अध्याय के रूप में देखना ही अधिक उपयुक्त होगा।

7. आर्थिक चिंतन एवं स्वावलंबी राष्ट्र की परिकल्पना

दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्र-चिंतन में अर्थव्यवस्था को विशेष महत्व मिला है। उनके लिए आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य केवल उत्पादन-वृद्धि, पूँजी-संचय या उपभोग-क्षमता बढ़ाना नहीं, बल्कि मानव-जीवन की ज़रूरतों की पूर्ति और समाज का संतुलित विकास था। उनका आर्थिक चिंतन स्वातंत्र्योत्तर भारत की नियोजित अर्थव्यवस्था तथा उस दौर के प्रभावी पूँजीवादी-समाजवादी आर्थिक प्रतिमानों की पृष्ठभूमि में पला-बढ़ा (Upadhyaya, 1965)। स्वतंत्रता के बाद भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था और नियोजित विकास की नीति अपनाई। राज्य ने औद्योगीकरण, सार्वजनिक क्षेत्र, आधारभूत ढाँचे और कृषि-विकास में अहम भूमिका निभाई; पंचवर्षीय योजनाओं, विशेषकर दूसरी पंचवर्षीय योजना में तीव्र औद्योगीकरण को प्राथमिकता दी गई। इसके साथ यह सवाल भी बना रहा कि आर्थिक वृद्धि का लाभ ग्रामीण क्षेत्रों और कमज़ोर वर्गों तक कैसे पहुँचे (Frankel, 2005)।

दीनदयाल उपाध्याय ने विकास की उस अवधारणा पर सवाल उठाया जिसमें आर्थिक प्रगति को मुख्यतः उत्पादन और औद्योगिक विस्तार से नापा जाता है। उनके अनुसार यदि उत्पादन बढ़ने के

बावजूद समाज के बड़े हिस्से की बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं, तो सिर्फ़ उत्पादन-वृद्धि को विकास की पूर्ण कसौटी नहीं माना जा सकता—यानी उनके आर्थिक चिंतन का केंद्र मानव-केंद्रित विकास ही रहा (Upadhyaya, 1965)। विकेंद्रीकरण उनकी आर्थिक दृष्टि का एक और महत्वपूर्ण स्तंभ था। वे आर्थिक गतिविधियों के अत्यधिक केंद्रीकरण को सामाजिक-आर्थिक असंतुलन की दृष्टि से उचित नहीं मानते थे और चाहते थे कि उत्पादन तथा आर्थिक निर्णयों में स्थानीय परिस्थितियों व ज़रूरतों को समुचित महत्व मिले, ताकि छोटे उत्पादकों, ग्रामीण अर्थव्यवस्था और स्थानीय रोज़गार को प्रोत्साहन मिल सके (Upadhyaya, 1965)।

भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि और गाँव की केंद्रीय भूमिका को देखते हुए उनके चिंतन में ग्राम-आधारित अर्थव्यवस्था का महत्व स्वाभाविक रूप से उभरा। आरंभिक दशकों में ग्रामीण गरीबी, कृषि-उत्पादकता और रोज़गार की समस्याएँ गंभीर थीं, और सिर्फ़ बड़े औद्योगिक केंद्रों पर निर्भर मॉडल ग्रामीण भारत की सभी ज़रूरतें पूरी नहीं कर सकता था—इसलिए स्थानीय उत्पादन-रोज़गार को आर्थिक विकास का प्रमुख आधार मानने का उनका आग्रह तत्कालीन परिस्थितियों से सीधे जुड़ा था। उनके आर्थिक विचारों में 'स्वदेशी' की अवधारणा भी अहम थी—इसका अर्थ केवल विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तक सीमित नहीं, बल्कि आर्थिक नीतियों को देश की अपनी परिस्थितियों, संसाधनों और ज़रूरतों के अनुरूप गढ़ने की व्यापक दृष्टि से जुड़ा था (Upadhyaya, 1965)। वे अत्यधिक उपभोक्तावाद के भी आलोचक थे—उनके अनुसार मनुष्य की आवश्यकताओं और इच्छाओं में फ़र्क है, और अर्थव्यवस्था का लक्ष्य अनंत उपभोग को बढ़ावा देना नहीं हो सकता, क्योंकि इससे संसाधनों पर दबाव

और सामाजिक असंतुलन पैदा हो सकता है। इस तरह उनका आर्थिक चिंतन नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़ता है।

रोज़गार को भी वे आर्थिक विकास का अनिवार्य आधार मानते थे–ऐसी व्यवस्था अधिक उपयोगी है जो व्यापक स्तर पर रोज़गार और आत्मनिर्भरता के अवसर पैदा करे, न कि केवल पूँजी-प्रधान उत्पादन जिसमें उत्पादन तो बढ़े पर रोज़गार सीमित रहें। इसलिए छोटे-मझोले उद्यमों, स्थानीय उद्योग और श्रम की गरिमा को महत्व देने का आग्रह उनके चिंतन में स्पष्ट झलकता है (Upadhyaya, 1965)। पूँजीवाद और समाजवाद, दोनों को लेकर उनका रुख आलोचनात्मक था–पूँजीवाद में व्यक्तिवाद और आर्थिक असमानता की आशंका, तो समाजवाद में राज्य के अतिकेंद्रीकरण और व्यक्ति-स्वतंत्रता के सिकुड़ने का ख़तरा। उनकी दृष्टि में दोनों प्रणालियों में कुछ उपयोगी तत्व हो सकते हैं, पर किसी एक को सार्वभौमिक हल मान लेना उचित नहीं–भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप आर्थिक स्वतंत्रता, सामाजिक उत्तरदायित्व और मानव-गरिमा के बीच संतुलन साधने वाली व्यवस्था ही उन्हें उपयुक्त लगती थी (Upadhyaya, 1965)।

यहाँ उनका आर्थिक चिंतन सीधे एकात्म मानववाद से जुड़ जाता है–यदि मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समग्र रूप माना जाए तो अर्थव्यवस्था का लक्ष्य भी सिर्फ़ भौतिक ज़रूरतों की पूर्ति तक सीमित नहीं रह सकता; उसे ऐसी सामाजिक संरचना गढ़नी होगी जिसमें व्यक्ति को रोज़गार, जीवन-निर्वाह, सामाजिक सुरक्षा और आत्मविकास के अवसर मिलें। इसी तरह उनका आर्थिक चिंतन अंत्योदय की अवधारणा को भी आधार देता है–यदि अंतिम व्यक्ति को विकास का वास्तविक लाभ नहीं मिलता तो आर्थिक विकास अधूरा ही माना जाएगा। हालाँकि उनके आर्थिक चिंतन की कुछ

सीमाओं पर विचार भी ज़रूरी है। आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था की जटिलताओं, वैश्विक व्यापार, तकनीकी बदलाव और बड़े पैमाने के उत्पादन की ज़रूरतों के बीच स्थानीय-विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था को व्यापक राष्ट्रीय ढाँचे के साथ संतुलित करना एक बड़ी चुनौती है। इसी तरह स्वदेशी और आत्मनिर्भरता जैसी अवधारणाओं को आज की वैश्विक अर्थव्यवस्था में किस रूप में लागू किया जाए, यह भी एक खुला सवाल है–इसलिए उनके आर्थिक विचारों का अध्ययन ऐतिहासिक संदर्भ के साथ-साथ उनकी व्यावहारिक संभावनाओं और सीमाओं के आईने में भी होना चाहिए।

कुल मिलाकर, दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास के वैकल्पिक मॉडल की तलाश का प्रतिनिधित्व करता है–मानव-केंद्रित विकास, विकेंद्रीकरण, स्थानीय अर्थव्यवस्था, रोज़गार, स्वावलंबन और सामाजिक उत्तरदायित्व को महत्व देने वाली एक ऐसी दृष्टि जो उस दौर के राज्य-प्रधान औद्योगिक मॉडल के समानांतर खड़ी होती थी। उनके लिए अर्थव्यवस्था राष्ट्र और समाज की सेवा का साधन थी, स्वयं में अंतिम लक्ष्य नहीं–यही दृष्टिकोण एकात्म मानववाद और अंत्योदय को उनके आर्थिक चिंतन से जोड़े रखता है।

8. ऐतिहासिक प्रभाव एवं समालोचनात्मक मूल्यांकन

दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक जीवन अपेक्षाकृत संक्षिप्त रहा, लेकिन उनके विचारों का असर स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनीतिक-वैचारिक इतिहास में लंबे समय तक बना रहा। उनका महत्व मुख्यत: इस बात में है कि उन्होंने जनसंघ के संगठनात्मक विकास के साथ-साथ राष्ट्र, समाज और अर्थव्यवस्था

के आपसी संबंधों को लेकर एक सुसंगत वैचारिक दृष्टि गढ़ी, जिसकी दो प्रमुख उपज एकात्म मानववाद और अंत्योदय रहीं (Baxter, 1969; Upadhyaya, 1965)।

पहला बड़ा प्रभाव जनसंघ के संगठनात्मक विकास में दिखता है। 1951 में स्थापित जनसंघ स्वतंत्र भारत की बहुदलीय व्यवस्था में एक वैकल्पिक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरा, और दीनदयाल उपाध्याय के संगठन-विस्तार, कार्यकर्ता-निर्माण और वैचारिक अनुशासन पर दिए गए बल ने जनसंघ को केवल चुनावी संगठन के बजाय एक दीर्घकालिक राजनीतिक संस्था के रूप में विकसित करने में मदद की (Baxter, 1969)।

दूसरा प्रभाव भारतीय राष्ट्रवाद की वैकल्पिक व्याख्या के रूप में देखा जा सकता है। राष्ट्र की पहचान को लेकर तब कई नज़रिए सक्रिय थे; दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्र को संवैधानिक राज्य या राजनीतिक सत्ता तक सीमित न रखकर ऐतिहासिक-सांस्कृतिक निरंतरता से जोड़ा, और यह मान्यता व्यक्त की कि राष्ट्रीय जीवन की स्थिरता के लिए साझा सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक एकात्मता ज़रूरी है (Upadhyaya, 1965)–इस दृष्टि ने भारतीय राजनीति में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति को मज़बूत किया।

तीसरा प्रभाव वैकल्पिक विकास-दृष्टि के रूप में सामने आता है। जब भारत में राज्य-नियोजित विकास, औद्योगीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र पर बल दिया जा रहा था, तब दीनदयाल उपाध्याय ने ऐसे मॉडल की आलोचना की जो मनुष्य को मुख्यतः आर्थिक इकाई मानकर चलता है, और आर्थिक विकास को मानव की व्यापक ज़रूरतों, सामाजिक संतुलन तथा स्थानीय परिस्थितियों से जोड़ने की वकालत की

(Upadhyaya, 1965)–इसी से विकेंद्रीकरण, स्थानीय उत्पादन और रोज़गार जैसी अवधारणाओं को बल मिला।

अंत्योदय उनके चिंतन का एक और प्रभावशाली पक्ष है। समाज के अंतिम व्यक्ति के कल्याण को विकास की कसौटी मानने का यह विचार सामाजिक-आर्थिक नीति के मानवीय पक्ष को उजागर करता है। यद्यपि 'अंत्योदय' शब्द को दीनदयाल उपाध्याय से ही विशेष रूप से जोड़ा जाता है, इसके व्यापक वैचारिक सूत्र भारतीय सामाजिक चिंतन में पहले से मौजूद थे–गांधी के सर्वोदय और अंतिम-व्यक्ति संबंधी विचार से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों की ऐतिहासिक-दार्शनिक पृष्ठभूमि अलग होने के बावजूद, समाज के कमज़ोर व्यक्ति को विकास के केंद्र में रखने की समान भावना दोनों में मिलती है (Gandhi, 1963)। व्यक्ति और समाज के रिश्ते को लेकर भी उनका दृष्टिकोण उल्लेखनीय है। आधुनिक उदारवादी परंपरा जहाँ व्यक्ति-स्वतंत्रता पर और समाजवादी परंपरा सामूहिक हित पर ज़्यादा बल देती है, वहीं उपाध्याय ने व्यक्ति-समाज के बीच संघर्ष के बजाय पूरकता और एकात्मता की धारणा प्रस्तुत करने की कोशिश की–उनके अनुसार व्यक्ति का विकास समाज से अलग नहीं हो सकता, और समाज का विकास भी व्यक्ति की गरिमा-स्वतंत्रता की अनदेखी करके संभव नहीं है (Upadhyaya, 1965)।

इसके बावजूद, उनके विचारों का समालोचनात्मक मूल्यांकन भी उतना ही आवश्यक है। पहला सवाल यह है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को बहुलतापूर्ण भारतीय समाज में कैसे परिभाषित किया जाए–भारत की सामाजिक बुनावट धार्मिक, भाषाई, जातीय और क्षेत्रीय विविधताओं से बनी है, इसलिए किसी भी सांस्कृतिक-राष्ट्र-अवधारणा को व्यापक नागरिकता और संवैधानिक समानता के साथ संतुलित करना ज़रूरी है।

दूसरा सवाल एकात्म मानववाद की व्यावहारिकता से जुड़ा है। यह मानव-जीवन के विभिन्न आयामों के संतुलित विकास की एक व्यापक वैचारिक रूपरेखा तो देता है, पर आधुनिक राज्य की जटिल आर्थिक-प्रशासनिक व्यवस्थाओं में इसे ठोस नीतियों में बदलना चुनौतीपूर्ण है–मसलन, विकेंद्रीकरण, स्थानीय उत्पादन और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे सिद्धांतों को राष्ट्रीय स्तर की औद्योगिक अर्थव्यवस्था, आधुनिक तकनीक और वैश्विक व्यापार के साथ कैसे संतुलित किया जाए, यह एक जटिल नीतिगत प्रश्न बना रहता है।

तीसरा सवाल अंत्योदय के संस्थागत स्वरूप से जुड़ा है। अंतिम व्यक्ति के कल्याण को विकास का लक्ष्य मानना नैतिक रूप से आकर्षक तो है, पर व्यवहार में यह तय करना ज़रूरी होता है कि 'अंतिम व्यक्ति' की पहचान किन सामाजिक-आर्थिक मानकों से हो–गरीबी, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, सामाजिक अवसर और संसाधनों तक पहुँच जैसे कई संकेतकों को एक साथ देखना पड़ता है, इसलिए अंत्योदय को प्रभावी सामाजिक नीति में बदलने के लिए स्पष्ट संस्थागत तंत्र और मापनीय मानकों की ज़रूरत होती है।

इन आलोचनाओं के बावजूद दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन का ऐतिहासिक महत्व कम नहीं होता। इतिहास-लेखन में किसी विचारधारा का मूल्य केवल उसकी वर्तमान स्वीकार्यता से नहीं, बल्कि इस बात से भी तय होता है कि उसने अपने दौर के प्रमुख सवालों को कैसे संबोधित किया और आगे के वैचारिक विमर्श को किस तरह प्रभावित किया। इस दृष्टि से एकात्म मानववाद स्वातंत्र्योत्तर भारत में उभरी महत्वपूर्ण वैचारिक प्रतिक्रियाओं में गिना जाता है। आगे के दशकों में भी भारतीय जनता पार्टी के गठन के बाद एकात्म मानववाद और अंत्योदय को उसके वैचारिक विमर्श में स्थान मिलता रहा, हालाँकि किसी भी राजनीतिक दल की बाद की नीतियों को सीधे दीनदयाल उपाध्याय के मूल चिंतन के समकक्ष

मान लेना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगा–समय, राजनीतिक हालात और आर्थिक ढाँचे में बदलाव के साथ विचारों की व्याख्या और उनका राजनीतिक इस्तेमाल भी बदलता रहता है। इसलिए मूल स्रोतों और बाद की राजनीतिक व्याख्याओं के बीच फ़र्क करना ज़रूरी है।

कुल मिलाकर, दीनदयाल उपाध्याय की ऐतिहासिक विरासत को न तो सिर्फ़ राजनीतिक उपलब्धियों तक सीमित किया जा सकता है, न ही महज़ वैचारिक सिद्धांतों तक। उनका महत्व स्वातंत्र्योत्तर भारत के उस वैचारिक इतिहास में है जिसमें राष्ट्र की पहचान, व्यक्ति-समाज संबंध, आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय जैसे प्रश्नों पर कई वैकल्पिक दृष्टिकोण विकसित हुए–एकात्म मानववाद और अंत्योदय इसी व्यापक विमर्श में उनके सबसे उल्लेखनीय वैचारिक अवदान के रूप में सामने आते हैं।

९. निष्कर्ष

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन स्वातंत्र्योत्तर भारत के वैचारिक-राजनीतिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण धारा का प्रतिनिधित्व करता है। आज़ादी के बाद भारत के सामने राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना के साथ-साथ सामाजिक पुनर्गठन, आर्थिक विकास, राष्ट्रीय एकीकरण और सांस्कृतिक पहचान से जुड़े कई सवाल मौजूद थे। इसी ऐतिहासिक संदर्भ में उपाध्याय ने भारतीय समाज की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विशिष्टताओं को आधार बनाकर राष्ट्र-निर्माण की एक वैकल्पिक दृष्टि गढ़ने की कोशिश की–उनका चिंतन इसीलिए किसी एक राजनीतिक दल की विचारधारा तक सीमित न रहकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के व्यापक वैचारिक विमर्श का हिस्सा बना (Upadhyaya, 1965; Baxter, 1969)।

उनके चिंतन का केंद्रीय आधार एकात्म मानववाद था, जिसमें मनुष्य को आर्थिक प्राणी या राजनीतिक नागरिक तक सीमित न मानकर उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के समन्वित विकास पर बल दिया गया। इस दृष्टि में व्यक्ति और समाज को परस्पर-विरोधी न मानकर एक-दूसरे के पूरक के रूप में समझा गया, और राष्ट्र को भी राज्य की राजनीतिक संरचना तक सीमित न रखकर ऐतिहासिक-सांस्कृतिक निरंतरता से जोड़ा गया (Upadhyaya, 1965)।

उनके चिंतन में अंत्योदय एक महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक आयाम के रूप में उभरता है–समाज के अंतिम व्यक्ति के कल्याण को विकास की कसौटी मानने वाली यह दृष्टि आर्थिक विकास को मानवीय गरिमा और सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ती है। उनके लिए राष्ट्र की प्रगति का असली अर्थ तभी पूरा होता जब विकास के अवसर और संसाधन समाज के कमज़ोर-वंचित वर्गों तक पहुँचें–इस अर्थ में अंत्योदय को एकात्म मानववाद के सामाजिक-व्यावहारिक विस्तार के रूप में समझा जा सकता है।

राष्ट्रवाद के मामले में उन्होंने भारतीय राष्ट्र को उसकी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक निरंतरता के आधार पर समझने की कोशिश की–उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय एकता केवल राजनीतिक संस्थाओं से नहीं, बल्कि सामाजिक एकात्मता, सांस्कृतिक चेतना और सामूहिक उत्तरदायित्व से भी बनती है। हालाँकि बहुलतापूर्ण भारतीय समाज में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की व्याख्या को लेकर अलग-अलग मत रहे हैं, इसलिए उनके राष्ट्रवाद का अध्ययन भारतीय राष्ट्रवाद की अन्य धाराओं तथा संविधान द्वारा स्थापित लोकतांत्रिक-बहुलतावादी मूल्यों के आईने में करना ही अधिक उपयुक्त है।

आर्थिक क्षेत्र में उनका चिंतन स्वातंत्र्योत्तर भारत के राज्य-प्रधान नियोजित विकास मॉडल के समानांतर एक वैकल्पिक दृष्टि पेश करता है–विकेंद्रीकरण, स्थानीय उत्पादन, रोज़गार, स्वावलंबन और मानवीय ज़रूरतों को आर्थिक नीति का प्रमुख आधार मानने वाली दृष्टि। उनका मत था कि अर्थव्यवस्था का अंतिम लक्ष्य मनुष्य की सेवा होना चाहिए, न कि मनुष्य को अर्थव्यवस्था की ज़रूरतों के अधीन कर देना (Upadhyaya, 1965)–इस अर्थ में उनका आर्थिक चिंतन एकात्म मानववाद और अंत्योदय, दोनों से जुड़ता है। ऐतिहासिक विश्लेषण यह भी स्पष्ट करता है कि दीनदयाल उपाध्याय के विचार अपने दौर के व्यापक वैचारिक संघर्षों से अलग-थलग नहीं थे–स्वतंत्रता के बाद समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद, उदारवाद और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जैसी विभिन्न धाराएँ राष्ट्र-निर्माण के अलग-अलग मॉडल पेश कर रही थीं। एकात्म मानववाद इसी बहस में भारतीय सांस्कृतिक संदर्भ से निकला एक वैकल्पिक वैचारिक प्रतिमान प्रस्तुत करने का प्रयास था (Baxter, 1969)।

उनके अवदान का मूल्यांकन करते समय उनके विचारों की सीमाओं और आलोचनाओं को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। एकात्म मानववाद व्यापक दार्शनिक-नैतिक दिशा तो देता है, पर आधुनिक जटिल अर्थव्यवस्था और प्रशासनिक व्यवस्था में इसे ठोस नीतियों में बदलना चुनौतीपूर्ण बना रहता है। इसी तरह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को भारत की धार्मिक-भाषाई-सामाजिक विविधता के साथ संतुलित करना ज़रूरी है, और अंत्योदय के आदर्श को व्यवहार में असरदार बनाने के लिए स्पष्ट संस्थागत तंत्र, न्यायपूर्ण संसाधन-वितरण और मापनीय सामाजिक-आर्थिक मानकों की दरकार होती है।

फिर भी, इन सीमाओं के बावजूद दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन का ऐतिहासिक महत्व बना रहता है। किसी विचारक का ऐतिहासिक महत्व केवल इस आधार पर तय नहीं होता कि उसके सभी विचार व्यवहार में कितने सफल रहे, बल्कि इस बात से भी तय होता है कि उसने अपने समय के प्रमुख सवालों को कैसे समझा और वैचारिक बहस को किस तरह प्रभावित किया। इस दृष्टि से दीनदयाल उपाध्याय ने स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रवाद, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, सामाजिक संगठन और मानव-केंद्रित विकास के प्रश्नों पर एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

'एकात्म मानववाद से अंत्योदय तक' की वैचारिक यात्रा को उनके समग्र चिंतन की एक निरंतरता के रूप में देखा जा सकता है–एकात्म मानववाद मानव-जीवन और समाज को समझने का व्यापक दार्शनिक आधार देता है, जबकि अंत्योदय उस दृष्टि को समाज के अंतिम व्यक्ति के जीवन तक पहुँचाने का प्रयास करता है। इन दोनों अवधारणाओं के बीच का यह रिश्ता संकेत देता है कि राष्ट्र-निर्माण की सफलता को केवल राजनीतिक शक्ति या आर्थिक वृद्धि से नहीं, बल्कि मानव-गरिमा, सामाजिक सहभागिता और व्यापक कल्याण से भी नापा जाना चाहिए।

अंततः, इतिहास की दृष्टि से पंडित दीनदयाल उपाध्याय का अध्ययन स्वातंत्र्योत्तर भारत की वैचारिक बहुलता और राष्ट्र-निर्माण की विभिन्न अवधारणाओं को समझने में सार्थक योगदान देता है। उनके विचारों का समालोचनात्मक अध्ययन भारतीय राजनीतिक चिंतन के विकास, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की बहस, वैकल्पिक आर्थिक दृष्टिकोण और सामाजिक कल्याण की अवधारणाओं को समझने में सहायक है। इसलिए दीनदयाल उपाध्याय को केवल एक राजनीतिक व्यक्तित्व के रूप में नहीं, बल्कि स्वातंत्र्योत्तर

भारत के वैचारिक इतिहास के उस चिंतक के रूप में देखा जाना चाहिए जिसने भारतीय संदर्भ में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के संबंधों को एक समग्र वैचारिक ढाँचे में समझाने का प्रयास किया।

संदर्भ सूची (References)

1. Baxter, C. (1969). The Jana Sangh: A biography of an Indian political party. University of Pennsylvania Press.
2. Chandra, B. (2017). India since independence. Penguin Books India.
3. Frankel, F. R. (2005). India's political economy, 1947–2004: The gradual revolution (2nd ed.). Oxford University Press.
4. Gandhi, M. K. (1963). Sarvodaya. Navajivan Publishing House.
5. Sharma, M. C. (2021). Deendayal Upadhyaya: Kartavya evam vichar. Prabhat Prakashan.
6. Upadhyaya, D. (1958). The two plans: Promises, performance, prospects. Rashtradharma Prakashan.
7. Upadhyaya, D. (1965). Integral humanism. Deendayal Research Institute.
8. Upadhyaya, D. (1968). Political diary. Suruchi Prakashan.